उपसंहार

'अस्मिता' शब्द जहाँ आत्मश्लाघा, अहंकार और मोह आदि का वाचक है, वहीं 'विमर्श' शब्द भाषण, विचारण, संवाद और सार्वजनिक चर्चा आदि अर्थों को ध्वनित करता है। 'अस्मिता' का तात्पर्य पहचान से है। 'अस्मिता विमर्श' शब्द संयुक्त रूप से किसी व्यक्ति, जाति, समुदाय या क्षेत्र इत्यादि की पहचान को प्राप्त करवाने के संघर्ष को प्रकट करता है। अस्मिता विमर्श के विभिन्न रूप हैं, जिसमें भिन्न-भिन्न समुदायों के लोग अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए संघर्षरत हैं और उनका प्रमुख संघर्ष विशेष रूप से समाज की मुख्यधारा में सम्मिलित होकर सम्मानजनक जीवन जीने का अधिकार हासिल करना है। इससे ये समुदाय सदियों से वंचित हैं। अस्मिता प्राप्ति के इस संघर्ष में प्रमुख रूप से स्त्री, दलित, आदिवासी और अल्पसंख्यक हैं, जो अपनी पहचान को प्राप्त कर समाज में अपने होने का अहसास करवाना चाहते हैं। स्त्री अस्मिता-विमर्श, दलित अस्मिता-विमर्श, आदिवासी अस्मिता-विमर्श और अल्पसंख्यक अस्मिता-विमर्श के अंतर्गत इन समुदायों के संघर्ष का इतिहास अंकित करने का प्रयास किया जा रहा है। उनका ऐतिहासिक संघर्ष यह स्थापित करता है कि इन समुदायों ने पीड़ित और उपेक्षित जीवन को बिताया है और पीड़ा के इस लंबे अहसास ने आज इनके संघर्ष को तीव्र कर दिया है।

अस्मिता की लड़ाई आज किसी भी मनुष्य या समाज के लिए सबसे अहं रूप में तब्दील हो गई है। प्राचीन काल से लेकर आज तक हम अपनी पहचान को नित्य नए रूपों में मजबूत करने की कोशिश में में लगे हुए हैं। वस्तुतः अस्मिता का संबंध हमारे स्वाभिमान और अस्तित्व से जुड़ा हुआ है।

हिंदी में अस्मिता विमर्श की असली शुरुआत नब्बे के दशक में होती है। भूमंडलीकरण के आगमन से पूर्व सोवियत संघ का विघटन विश्व पटल पर महत्वपूर्ण घटना के रूप में सामने आता है, जिसमें अस्मिता की पहचान मुखर रूप से सामने आती है। समकालीन साहित्य बदलते हुए परिवेश और संभावनाओं को तलाशते हुए आगे बढ़ रहा है और इसी तलाश का परिणाम है कि जो चिंतन का विषय था, वह 'विमर्श' का रूप धारण कर लेता है।

प्रो. चौथीराम यादव हिंदी के महत्वपूर्ण आलोचक हैं। सर्वप्रथम भक्तिकाल के लोकधर्मी रूप को मजबूती से सामने लाकर वे आलोचकों-पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हैं। प्रो. यादव बनी-बनाई सवर्णवादी परिपाटी को ध्वस्त करते हुए उस पर सवाल खड़े करते हैं। वे रामचन्द्र शुक्ल जैसे नामी आलोचकों को भी कटघरे में खड़ा करते हैं। वे बड़ी निर्भीकता से पूछते हैं कि आखिर ऐसा क्या कारण था कि रामचन्द्र शुक्ल, तुलसीदास को महिलाओं का हिमायती मान लिए और वहीं पर जायसी को किनारे कर दिये? क्या वे महिलाओं की समस्याओं या उनकी सशक्तिकरण की बात नहीं करते हैं? उस समय बहुत से ऐसे मुस्लिम लेखक और कवि हुए और आज भी लिख रहे हैं, लेकिन उनकी लेखनी की हिंदी आलोचना ने सुध लेना उचित क्यों नहीं समझा? ऐसे कई प्रश्न वे खड़ा करते हैं।

प्रो. यादव ने उन पक्षों को दिखाया है, जिसे सामान्यतया हिंदी आलोचना ध्यान नहीं देती थी। जो अध्ययन और इतिहास हमारे सामने है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि आर्य-अनार्य संग्राम शृंखला के दौरान जो ज्ञात मूल-जन विजित कर लिए गए और दास या सेवक के रूप में जिनके साथ व्यवहार किया गया, वह आज का दलित समाज है, जिसने मुख्य रूप से अछूत होने का दंश सहा। इसे आज हम हाशिये का समाज कहते हैं।

प्रो. चौथीराम यादव पसमांदा आंदोलन को दलित विमर्श का ही एक 'काउंटर पार्ट' मानते हैं। आज मुस्लिम समाज में 80 प्रतिशत पसमांदा (दलित और पिछड़े) मुसलमानों के अधिकारों पर 20 प्रतिशत अशरफिया मुसलमान (सवर्ण) कब्जा जमाये बैठे हैं। राजनीति, शिक्षा, व्यापार लगभग हर क्षेत्र में इन्हीं का दबदबा है। वास्तव में पसमांदा आंदोलन को फिर से चलानेकी जरूरत है। चौथीराम यादव इन्हें मुख्यधारा का समाज मानते हैं।

सौंदर्यशास्त्र किसी भी साहित्य की दिशा और दशा निर्धारित करता है। किसी भी साहित्य को लिखने व पढ़ने का अपना एक अलग सौंदर्यशास्त्र होता है। चौथीराम यादव हिंदी के परंपरावादी सौंदर्यशास्त्र को नकारते हैं। वे कहते हैं कि शुक्ल जी का सौंदर्यशास्त्र मौलिक नहीं है बल्कि वह संस्कृत की नकल है। वे अस्मितामूलक सौंदर्यशास्त्र पर ज़ोर देते हैं। दलित साहित्य का अपना अलग सौंदर्यशास्त्र लिखा जा चुका है। वहीं स्त्री साहित्य के सौंदर्यशास्त्र पर प्रो. यादव चिंता जाहिर करते हैं। वे सवाल उठाते हैं कि भूखे पेट और भरे हुए पेट का सौंदर्यशास्त्र एक कैसे हो सकता है? वे स्त्री के जाति पक्ष को प्रमुखता से उजागर करते हैं।

प्रो. चौथीराम यादव दलित साहित्य को आधे-अधूरे नवजागरण का परिणाम मानते हैं। दलित विमर्श के बहाने वे सम्पूर्ण हिंदी साहित्य की पुनर्पड़ताल करते दिखाई देते हैं। दलित साहित्य को अब अनसुना नहीं किया जा सकता, यह आज की जरूरत है। प्रो. यादव डॉ. अंबेडकर की वैचारिकी को आत्मसात करके लिखे गए साहित्य को दलित साहित्य की श्रेणी में रखते हैं। वे यह भी मानते हैं कि दलित लेखन के लिए जरूरी नहीं कि वह भी दलित हो। दलित लेखन के लिए हमें जातीय बंधन से मुक्त होकर सोचना होगा, तभी हम अस्मितामूलक साहित्य की रचना कर सकते हैं।

स्त्रियों का सबसे अधिक शोषण सामंती समाज अथवा उच्च घरों में होता था। प्रो. चौथीराम यादव इसका जिम्मेदार अपने को प्रगतिशील मानने वाले सामंती समाज और उसके आधे-अधूरे नवजागरण को मानते हैं। आज जब राष्ट्र की पुनर्व्याख्या की जा रही है तो ऐसे में इनकी भागीदारी के बिना यह संभव नहीं है। किसी राष्ट्र के निर्माण में महिलाओं की भागीदारी अहम मानी जाती है। प्रो. यादव साहित्य और समाज दोनों जगहों पर स्त्रियों के तिहरे शोषण की बात स्वीकार करते हैं। हिंदी आलोचना में भी इनकी कोई स्वतंत्र पहचान न होकर बल्कि किसी की बेटी, बहन, पत्नी या प्रेमिका के रूप में की गई है, जबकि प्रो. यादव इसे स्वीकार नहीं करते हैं। वे स्त्रियों को पूरी तरह स्वतंत्र देखने की वकालत करते हैं।

भक्तिकाल में भी अस्मितामूलक लेखन किया गया था। इसे प्रो. यादव 'प्रगतिशील काल' की संज्ञा देते हैं। चौथीराम यादव भक्तिकाल पर यथास्थितिवादियों का कब्जा होने का आरोप लगाते हैं। वे कहते हैं कि एक ओर तुलसीदास को हिंदी जाति का गौरव घोषित कर दिया जाता है, वहीं कबीर, जायसी आदि कवियों में लोकधर्म नहीं दिखाया जाता है। क्या बीसलदेव रासो, पद्मावत में लोकधर्म नहीं था? वे तुलसीदास की अपेक्षा सूरदास को वर्ण व्यवस्था का पोषक नहीं मानते हैं। वास्तव में प्रो. यादव ने भक्तिकाल को लोकधर्मी दृष्टि से देखने का प्रयास किया है। इस लिहाज से उन्हें लोकधर्मी आलोचक कहा जा सकता है।

साहित्य स्वाधीनता संग्राम से अछूता कैसे रह सकता है। प्रो. यादव पूरे तर्क के साथ कहते हैं कि इस आंदोलन में दलितों, स्त्रियों आदि के योगदान को भुला दिया गया। ललई सिंह यादव, पेरियार, रामस्वरूप वर्मा, फुले, अंबेडकर, झलकारी बाई आदि ने पूरा जीवन राष्ट्र को समर्पित कर दिया था, लेकिन इनको नोटिस में नहीं लिया जाता। चौथीराम यादव का चिंतन इन सभी मुद्दों पर तार्किक सवाल उठाता है।

वे सीधा प्रश्न करते हैं कि भारतीय राजनीति के इतिहास को गांधी युग और नेहरू युग में बाँटकर तो देखा जाता है, लेकिन अंबेडकर, पेरियार, फुले उससे बेदखल क्यों हैं? क्या वह अंबेडकर का युग नहीं है? दलितों, पिछड़ों, स्त्रियाँ और अल्पसंख्यकों के बारे में उनसे ज्यादा किसने सोचा-विचारा?

हिंदी के नवजागरण को प्रो. यादव अधूरा नवजागरण घोषित करते हैं। उनका तर्क है कि जिसमें एक तिहाई जनसंख्या को शामिल न किया गया हो तो वह कैसा नवजागरण है। जिन्होंने सचमुच की क्रांति की, जैसे ज्योतिबा फुले, सावित्री बाई, अंबेडकर, पेरियार आदि में नवजागरण ही नहीं देखा जाता है। चौथीराम यादव का चिंतन इन सभी पक्षों को दृष्टिपात करते हुए चलता है। चौथीराम यादव हिंदी के ऐसे महत्वपूर्ण आलोचक हैं, जो दलित, स्त्री व आदिवासी के प्रश्न की ऐतिहासिक जड़ों को खोजते हुए हिंदी साहित्य के सवर्ण आलोचकों व इतिहासकारों के सम्मुख दर्जनों प्रश्न खड़ा करते हैं, जो उनके दोहरे चरित्र को उजागर करता है।

अंत में हम कह सकते हैं कि चौथीराम यादव की आलोचना उन सभी पक्षों, मुद्दों को सामने लाती है, जिसे अभी तक नजरअंदाज किया जाता रहा है और जिनका नोटिस नहीं लिया गया। चाहे वह दलित विमर्श हो, स्त्री विमर्श, आदिवासी विमर्श हो या पसमांदा आंदोलन की समस्या हो या भक्तिकाल की समस्या हो। इन सभी मुद्दों पर उनकी लेखनी निष्पक्ष तरीके से हुई। इन पक्षों पर तो बहुत पहले ही सवाल उठाया जाना चाहिए था, फिर अभी तक हिंदी आलोचना मौन क्यों थी ? वास्तव में प्रो. यादव लीक से हटकर चलने वाले आलोचक हैं। हम इन्हें दूसरीपरंपरा का आलोचक कहें तो इनकी सार्थकता ज्यादा सिद्ध होगी। वास्तव में प्रो. यादव लोकधर्मी आलोचक हैं। उन्होंने दलित, स्त्री, आदिवासी और मसमांदा अस्मिता को व्यापक अर्थ में देखा-समझा है। वे इन अस्मिताओं के उभार को भारतीय समाज और

राजनीति का एक जरूरी हिस्सा मानते हैं। वे पूरी बहुजन परंपरा को स्थापित करने की जरूरत पर बल देते हैं, जो स्वतन्त्रता, बंधुता और समानता पर आधारित है। प्रो. यादव की आलोचना दृष्टि साफ और स्पष्ट है और बिना लाग-लपेट के सीधे अपनी बात कहते हैं। उनका मानना है कि हाशिये की अस्मिता के सवालों को हल किए बिना न समतामूलक समाज बन सकता है और न ही भारत का समग्र विकास संभव हो सकता है। इस प्रकार प्रो. चौथीराम यादव का अस्मितावादी चिंतन सामाजिक परिवर्तन के धरातल को और मजबूत बनाता है।